धर्म और उसके ध्येयकी परीक्षा

शिक्षा सूर्यके प्रकाशके समान है। दूसरी वस्तुओंका अंधकार दूर करनेसे ही इसे सन्तोष नहीं होता, यह तो अपने ऊपरके अंधकारको भी सहन नहीं कर सकती। सची बात तो यह है कि शिक्षा अपने स्वरूप और अपने सभी अंगोंके संबंधमें पैदा हुए भ्रम या अस्पष्टतायें नहीं सह सकती। अपनी इसी एक शक्तिके कारण यह दूसरे विषयोंपर भी प्रकाश डाल सकती है। कुशल चिकित्सक पहले अपने ही दर्दकी परीक्षा करता है और तभी वह दूसरेके रोगोंकी चिकित्सा अनुभवसिद्ध बलसे करता है। मैकालेके मिनट (Minute-वक्तव्य) के अनुसार हिन्दुस्तानमें प्रचलित केवल क्लर्क उत्पन्न करनेवाली अँग्रेजी शिक्षाने पहले पहल अपनेसे ही सम्बद्ध भ्रान्तियोंको समझने और उन्हें दूर करनेके लिए सिर ऊँचा किया। और साथ ही इसी शिक्षाने धर्म, इतिहास, समाज, राजनीति आदि दूसरे विषयोंपर भी नई रीतिसे प्रकाश डालना शुरू किया। जिस विषयकी शिक्षा दी जाने लगती है उसी विषयकी, उस शिक्षाके संस्पर्शसे विचारणा जागृत होनेके कारण, अनेक दृष्टियोंसे परीक्षा होने लगती है।

धर्मका पिता, मित्र या उसकी प्रजा विचार ही है। विचार न हो तो धर्मकी उत्पत्ति ही संभव नहीं। धर्मके जीवन और प्रसारके साथ विचारका योग होता ही है। जो धर्म विचारोंको स्फुरित नहीं करता और उनका पोषण नहीं करता वह अपनी ही आत्माकी हत्या करता है। इसलिए धर्मके विषयमें विचारणा या उसकी परीक्षा करना, उसको जीवन देनेके बराबर है। परीक्षाकी भी परीक्षा यदि हो, तो वह अंतमें लाभकारक ही होती है। परीक्षाको भी भयके बंधन संभव हैं। जहाँ स्वेच्छाचारी राजतंत्र हो और शिक्षासंबंधी मीमांसासे उस तंत्रको धक्का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगनेका संभव हो वहाँ वैसी समालोचनाके सामने कानून और पुलिस जेलका द्वार बतानेके लिए खड़ी रहती है।

यह सत्य है कि धर्मकी परीक्षाको सद्भाग्यसे ऐसा भय नहीं है। इसके भयस्थान दूसरी ही तरहके हैं। परीक्षकमें पूरी विचार-शक्ति न हो, निष्पक्षता रखनेका पूरा बल न हो, और फिर उसकी परीक्षाका उचित मूल्य आँक सकनेवाले श्रोता न हों, तो यह परीक्षाका भयस्थान समझा जायगा। धर्म जैसे सूक्ष्म और विवादग्रस्त विषयकी परीक्षाका मुख्य भय-स्थान तो स्वार्थ है। अगर कोई स्वार्थकी सिद्धिके लिए या स्वार्थकी हानिके भयसे प्रेरित होकर धर्मकी मीमांसा शुरू करे, तो वह उसकी परीक्षाके प्रति न्याय नहीं कर सकेगा। इसलिए इस विषयमें हाथ डालते समय मनुष्यको सब तरफसे यथाशक्य सावधानी रखना अनिवार्य है अगर वह अपने विचारोंका कुछ भी मूल्य समझता है तो।

सबकी सद्गुणपोषक भावना

धर्मका समूल ध्वंस करनेके इच्छुक रूसी साम्यवादियोंसे यदि पूछा जाय कि क्या तुम दया, सत्य, संतोष, त्याग, प्रेम और क्षमा आदि गुणोंका नाश चाहते हो, तो वे क्या जवाब देंगे? साम्यवादियोंका कट्टरसे कट्टर विरोधी भी इस बातको सिद्ध नहीं कर सकता कि वे उपर्युक्त गुणोंका विनाश करना चाहते हैं और दूसरी तरफ धर्मप्राण कहलानेवाले धार्मिक सज्जनोंसे—किसी भी पंथके अनुयायियोंसे—पूछा जाय कि क्या वे असत्य, दम्भ, क्रोध, हिंसा, अनाचार आदि दुर्गुणोंका पोषण करना चाहते हैं या सत्य मैत्री वगैरह सद्गुणोंका पोषण करना चाहते हैं, तो मेरी धारणा है कि वे यही जवाब देंगे कि वे एक भी दुर्गुणका पक्ष नहीं करते बल्कि सभी सद्गुणोंका पोषण चाहते हैं। साथ ही साथ उन साम्यवादियोंसे भी उक्त दुर्गुणोंके विषयमें पूछ लिया जाय तो ठीक होगा। कोई भी यह नहीं कहेगा कि साम्यवादी भी दुर्गुणोंका पोषण करना चाहते हैं या वे उसीके लिए सब योजना करते हैं।—यदि धार्मिक कहलानेवाले कट्टरपन्थी और धर्मोच्छेदक माने जानेवाले साम्यवादी दोनों ही सद्गुणोंका पोषण करने और दुर्गुणोंको दूर करनेके विषयमें एकमत हैं और सामान्य रूपसे सद्गुणोंमें गिने जानेवाले गुणों और दुर्गुणोंमें गिने जानेवाले दोषोंके विषयमें भी दोनोंमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मतभेद नहीं है, तो यह सवाल उठता है कि रूढ़िपन्थी और सुधारवादी इन दोनोंके बीच धर्म-रक्षा और धर्म-विच्छेदके विषयमें जो भारी खींचतान, मारामारी और विवाद दिखलाई पड़ता है उसका क्या कारण है? यह मत-भेद, यह तकरार, धर्म-नामकी किस वस्तुके विषयमें है?

मत-भेदके विषय

सद्वृत्ति या सद्वृत्तिजन्य गुण, जो मानसिक होनेके कारण सूक्ष्म हैं, उनकी धार्मिकताके विषयमें तो मत-भेद है ही नहीं। मत-भेद तो धर्मके नामसे प्रसिद्ध, धर्मरूपमें माने जानेवाले और धर्मके नामसे व्यवहारमें आनेवाले बाह्य आचरणों या बाह्य व्यवहारोंके विषयमें है। यह मत-भेद एक या दूसरे रूपमें तीव्र या तीव्रतर रूपमें उतना ही पुराना है जितना मनुष्य जातिका इतिहास। सामान्य रीतिसे मत-भेदके विषयरूप बाह्य नियमों, विधानों या कलापोंको तीन भागोंमें बाँटा जा सकता है।

(१) वैयक्तिक नियम वे हैं जिनका मुख्य संबंध व्यक्तिकी इच्छासे है; जैसे कि खान-पान स्नानादिके नियम। यदि एक श्रेणीके लोग कन्द-मूलको धर्मकी दृष्टिसे वर्ज्य मान कर खानेमें अधर्म समझते हैं तो दूसरे उसीको खाकर उपवास-धर्म समझते हैं। एक आदमी रात्रि होनेसे पहले खानेमें धर्म मानता है, दूसरा रात्रि-भोजनमें अधर्म नहीं समझता। एक व्यक्ति स्नानमें ही बड़ा भारी धर्म समझता है और दूसरा उसीमें अधर्म।

(२) कुछ सामाजिक बाह्य व्यवहार होते हैं जो धर्म रूपमें माने जाते हैं। एक समाज मंदिर बनानेमें धर्म मानकर उसके पीछे पूरी शक्ति लगाता है और दूसरा पूर्णरूपसे उसका विरोध करनेमें धर्म मानता है। फिर मन्दिरकी मान्यता रखनेवाले समाजमें भी विभिन्न विरोधी विचारवाले हैं। एक विष्णु, शिव या रामके सिवाय दूसरी मूर्तिको नमस्कार करने या पूजन करनेमें अधर्म बतलाता है, और दूसरा इन्हीं विष्णु शिव आदिकी मूर्तियोंका आदर करनेमें अधर्म मानता है। इतना ही नहीं किन्तु एक ही देवकी मूर्तियोंके नग्न और सवस्त्र स्वरूपमें भी भारी सामाजिक मत-भेद है। एक ही प्रकारके स्वरूपकी एक ही देवकी नग्न मूर्तिके माननेवालोंके बीच भी पूजाके तरीकोंमें कुछ कम मत-भेद नहीं है। एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज पुरुषके एक साथ या क्रमसे किये हुए एकसे अधिक विवाहोंको तो अधर्म नहीं समझता परन्तु पालनेमें झूलती हुई बाल-विधवाके पुनर्विवाहके नाम मात्रसे ही काँप उठता है। एक कौम, हो सके वहाँ तक, दूरके गोत्रमें विवाह करना धर्म समझती है तो दूसरी कौम, हो सके वहाँ तक नजदीकके खानदानमें शादी करना श्रेष्ठ समझती है। एक समाज धर्मदृष्टिसे पशु-वधका समर्थन करता है तो दूसरा उसी दृष्टिसे उसका विरोध करता है।

(३) कुछ प्रथायें ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध समस्त जनताके साथ होते हुए भी उनकी धार्मिकताके विषयमें तीव्र मतभेद उपस्थित होता है। इस समय किसी प्रत्यक्ष आक्रमणकारी दुश्मनका धावा सौभाग्यसे या दुर्भाग्यसे नहीं हो रहा है—अतः दुश्मनोंको मारनेमें धर्म है या अधर्म है, इस विषयकी चर्चा ब्रिटिश गवर्नमेंटने बन्द करके हमारा समय बचा दिया है, फिर भी प्लेगदेव जैसे रोगोंका आक्रमण तो होता ही है। उस समय इस रोगके दूत चूहोंको मारनेमें कोई सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे धर्म समझता है, और कोई अधर्म मानता है। जहाँ बाघ, सिंह वगैरह हिंसक प्राणियों या क्रूर जन्तुओंका उपद्रव होता है, वहाँ भी सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे उनका संहार करनेमें धर्माधर्मका प्रश्न खड़ा हो जाता है। एक वर्ग सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे किसी भी जलाशय या आम रास्तेको मल-मूत्र आदिसे बिगाड़नेमें पाप मानता है, तो दूसरा वर्ग इस विषयमें केवल तटस्थ ही नहीं रहता बल्कि विरोधी व्यवहार करता है जिससे मालूम पड़ता है कि मानो वह उसमें धर्म समझता है।

यहाँ तो थोड़ेसे ही नमूने दिये गये हैं परन्तु अनेक तरहके छोटे बड़े क्रिया-कांडोंके अनेक भेद हैं जिनसे एक वर्ग बिलकुल धर्म मान कर चिपटे रहनेका आग्रह करता है तो दूसरा वर्ग क्रियाकांडोंको बन्धन समझ कर उनको उखाड़ फेंकनेमें धर्म समझता है। इस प्रकार हरेक देश, हरेक जाति और हरेक समाजमें बाह्य विधि-विधानों और बाह्य आचारोंके विषयमें उनके धर्म होने या न होनेकी दृष्टिसे बेशुमार मत-भेद हैं। इस लिए प्रस्तुत परीक्षा उपर्युक्त मतभेदोंके विषयपर ही चर्चा करनेकी है। हमने यह तो देखा है कि इन विषयोंमें अनेक मत-भेद हैं और वह घटते बढ़ते रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक संख्यक लोगोंमें इन मतभेदोंके पूरे जोशके साथ प्रवर्तित होते हुए भी सदा कुछ व्यक्ति ऐसे मिल जाते हैं जिनको ये मत-भेद स्पर्श ही नहीं कर सकते। इससे यह सोचना प्राप्त होता है कि ऐसी कौन-सी बात है कि जिसको लेकर ऐसा बहुव्यापी मत-भेद भी थोड़ेसे इने-गिने लोगोंको स्पर्श नहीं करता और जिस तत्त्वको लेकर इन लोगोंको मतभेद स्पर्श नहीं करता वह तत्त्व पा लेना क्या दूसरे लोगोंके लिए शक्य नहीं है ?

हमने ऊपर बतलाया है कि धर्मके दो स्वरूप हैं, पहला तात्त्विक जिसमें सामान्यतः किसीका मतभेद नहीं होता, अर्थात् वह है सद्गुणात्मक। दूसरा व्यावहारिक जिसमें तरह तरहके मतभेद अनिवार्य होते हैं, अर्थात् वह है बाह्य प्रवृत्तिरूप। जो तात्त्विक और व्यावहारिक धर्मके बीचके भेदको स्पष्ट रूपसे समझते हैं, जो तात्त्विक और व्यावहारिक धर्मके संबंधके विषयमें विचार करना जानते हैं, संक्षेपमें तात्त्विक और व्यावहारिक धर्मके उचित पृथक्करणकी और उसके बलाबलकी चाबी जिनको मिली है उनको व्यावहारिक धर्मके मत-भेद क्लेशवर्द्धक रूपमें स्पर्श नहीं कर सकते। इस प्रकारके पुरुष और स्त्रियाँ इतिहासमें हुई हैं और आज भी हैं। इसका सार यह निकला कि अगर धर्मके विषयकी सच्ची और स्पष्ट समझ हो, तो कोई भी मत-भेद क्लेशका कारण नहीं हो सकता। सच्ची समझ होना ही क्लेशवर्द्धक मत-भेदके निवारणका उपाय है और इस समझका तत्त्व, प्रयत्न किया जाय तो, मनुष्य जातिमें विस्तार किया जा सकता है। इस लिए ऐसी समझको प्राप्त करना और उसका पोषण करना इष्ट है। अब अपनेको यह देखना चाहिए कि तात्त्विक और व्यावहारिक धर्मके बीचमें क्या संबंध है ?

शुद्ध वृत्ति और शुद्ध निष्ठा निर्विवाद रूपसे धर्म है जब कि बाह्य व्यवहारके धर्माधर्मत्वके विषयमें मतभेद है। इसलिए बाह्य आचारों, व्यवहारों, नियमों और रीति-रिवाजोंकी धार्मिकता या अधार्मिकताकी कसौटी तात्त्विक धर्म ही हो सकता है।

शुद्धाशुद्धनिष्ठा और उसके दृष्टान्त

जिन जिन प्रथाओं, रीति-रिवाजों और नियमोंकी उत्पत्ति शुद्ध निष्ठासे होती है उनको सामान्य रूपसे धर्म कहा जा सकता है और जो आचार शुद्धनिष्ठाजन्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होते, उनको अधर्म कहना चाहिए। अपने अनुभवसे अपनी आत्मामें और सच्चे अनुमानसे दूसरोंमें भी देखा जा सकता है कि अमुक एक ही आचार कभी तो शुद्ध निष्ठासे उत्पन्न होता है और कभी अशुद्ध निष्ठासे। एक व्यक्ति जो आचरण शुद्ध निष्ठासे करता है, उसीको दूसरा व्यक्ति अशुद्ध निष्ठासे करता है। यदि एक वर्ग शुद्ध या शुभ निष्ठासे मंदिर-निर्माणके पीछे पड़कर लोगोंकी शक्ति समय और धन लगानेमें धर्म मानता है, तो दूसरा वर्ग उतनी ही बल्कि कई बार उससे भी अधिक शुभ या शुद्ध निष्ठासे मंदिर-निर्माणका विरोध करके उसके पीछे खर्च किये जानेवाले धन-जन-बलको दूसरी ही दिशामें खर्च करनेमें धर्म समझता है और तदनुसार आचरण करता है। एक वर्ग कदाचित् विधवा-बालाके हितार्थ ही उसके पुनर्विवाहका विरोध करता है, तो दूसरा वर्ग उस बालाका अधिकार समझकर उसके अधिकार-धर्मकी दृष्टिसे शुभ निष्ठापूर्वक उसके पुनर्विवाहकी हिमायतमें ही धर्म समझता है। एक वर्ग चूहों और दूसरे विषैले जन्तुओंकी, द्वेषभावसे नहीं, पर बहुजनहितकी दृष्टिसे शुभनिष्ठापूर्वक, हिंसाकी हिमायत करता है, तो दूसरा वर्ग बहुजनके जीवनाधिकारकी दृष्टिसे शुभनिष्ठा-पूर्वक ही उनकी हिंसाके विरोधमें धर्म समझता है। तात्पर्य यह कि वस्तुतसे रीति-रिवाजों और प्रथाओंके समर्थन या विरोधके पीछे बहुधा दोनों पक्षवालोंकी शुभनिष्ठाका होना संभव है।

यह तो जानी हुई बात है कि हजारों स्वार्थी जन सिर्फ अपनी अन्दरूनी स्वार्थ-वृत्ति और लोलुप अशुभ निष्ठाको लेकर ही मन्दिर तथा वैसी दूसरी संस्थाओंका समर्थन करते हैं, और तीर्थोंका माहात्म्य गाकर सिर्फ आजीविका प्राप्त करते हैं। अपनी किसी स्वार्थवृत्तिसे या प्रतिष्ठाके भूतके भयसे प्रेरित होकर विधवाके भले बुरेका विवेक किये बिना ही केवल अशुभ निष्ठासे उसके पुन-र्विवाहका समर्थन करनेवाले भी होते आये हैं, और इतनी ही या इससे भी अधिक अशुभ वृत्तिसे पुनर्विवाहका विरोध करने वाले भी मिल जाते हैं। मद्य मांस जैसे हेय पदार्थोंका भी शुभनिष्ठासे प्रसंग विशेष पर उपयोग करनेमें धर्म माना गया है, जब कि अशुभ निष्ठासे उनका त्याग करने या करानेका धर्म सिद्ध नहीं होनेके उदाहरण भी मिल सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह ऐसा कोई भी वैयक्तिक, सामाजिक या सार्वजनिक नियम, आचार, प्रथा या रीति-रिवाज नहीं है, जिसके विषयमें कोई समझदार प्रामाणिक मनुष्य ऐसा कह सके कि अमुक व्यवहार तीनों कालोंमें सबके लिए एक ही तरीकेसे शुभनिष्ठापूर्वक होना और अमुक व्यवहार अशुभनिष्ठापूर्वक होना ही संभव है।

परिणामसे ही बाह्य व्यवहारको धर्म मानना चाहिए

इतने विचारके बाद हम अपने निश्चयकी प्रथम भूमिकापर आ पहुँचते हैं कि कोई भी बाह्य व्रत-नियम आचार-विचार या रीति-रिवाज ऐसा नहीं है जो सबके लिए, समाजके लिए या एक व्यक्तिके लिए हमेशा धर्मरूप या अधर्मरूप ही कहा जा सके। इस प्रकारके व्यावहारिक गिने जानेवाले धर्मोंकी धार्मिकता या अधार्मिकता सिर्फ उन नियमोंके पालन करनेवालेकी निष्ठा और प्रामाणिक बुद्धिके ऊपर अवलंबित है। शुभ निष्ठासे किसीका प्राण बचानेके लिए उसपर होनेवाले शस्त्राघातको रोका जा सकता है और इससे भी ज्यादा शुभ निष्ठासे दूसरे वक्त उसके ऊपर वही शस्त्र चलाया जा सकता है। अशुभ निष्ठासे किसीके ऊपर शस्त्र चलानेकी बात तो जानी हुई है, पर इससे भी ज्यादा अशुभ निष्ठासे उसके पालन और पोषण करनेवाले भी होते हैं। सिंह और सर्प जैसे जीवोंको पाल कर उनकी स्वतंत्रताके हरणसे आजीविका करनेवालोंको कौन नहीं जानता? परन्तु इससे भी ज्यादा अशुभ निष्ठासे लड़कियोंको पालन पोषण कर उनकी पवित्रताका बलिदान करके आजीविका करनेवाले लोग भी आज संस्कृत गिने जानेवाले समाजमें सुरक्षित हैं। इन सबसे सूचित यही होता है कि कोई भी व्यावहारिक बाह्य क्रिया-काण्ड सिर्फ इस लिए कि बहुतसे लोग उसका आचरण करते हैं, धर्म नहीं कहा जा सकता या उसको दूसरे लोग नहीं मानते या आचारमें नहीं लाते या उसका विरोध करते हैं, तो इन्हीं कारणोंसे वह अधर्म नहीं कहा जा सकता।

बहुत-से लोग कहते हैं कि बहुत दफा व्रत, नियम, क्रिया-काण्ड आदि शुभ-निष्ठामेंसे उत्पन्न न होने पर भी अभ्यासके बलसे शुभनिष्ठा उत्पन्न करनेमें कारण हो सकते हैं। इस लिए परिणामकी दृष्टिसे बाह्य व्यवहारको धर्म मानना चाहिए। इसका उत्तर मुश्किल नहीं है। कोई भी बाह्य व्यवहार ऐसा नहीं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो शुभनिष्ठा ही उत्पन्न करे। उलटा बहुत दफा तो ऐसा होता है कि अमुक बाह्य व्यवहारकी धर्मरूपमें प्रतिष्ठा जम जानेपर उसके आधारपर स्वार्थ-पोषणका ही काम अधिकांशमें साधा जाता है। इसी लिए हम देखते हैं कि शुभ-निष्ठासे स्थापित की हुई मंदिर-संस्थाकी व्यवस्था करनेवाली धार्मिक पेढ़ियाँ अन्तमें स्वार्थ और सत्ताके पोषणकी साधन हो जाती हैं। इतना ही नहीं, परन्तु कभी कभी धर्म-भीरु दृष्टिसे पाई पाईका धार्मिक हिसाब रखनेवाले लोग भी धनके लोभमें फँसकर प्रसंग आनेपर अपना धार्मिक कर्ज चुकाना भूल जाते हैं। शुभ निष्ठासे स्वीकार किये हुए त्यागीके वेशकी प्रतिष्ठा जम जानेपर और त्यागीके आचरणका लोकाकर्षण जम जानेपर उसी वेश और बाह्य आचरणके आधारपर अशुभ वृत्तियोंके पोषणके उदाहरण भी कदम कदमपर मिलते रहते हैं। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि कोई भी व्यक्ति बाह्य नियमसे लाभ नहीं उठाता किन्तु बाह्य नियम लाभप्रद होता ही है, यह भी एकान्त सत्य नहीं है। इस लिए जिस तरह एकान्त-रूपमें शुद्ध-निष्ठाको, बाह्य व्यवहारका कारण नहीं माना जा सकता, उसी तरह उसको एकान्त रूपमें बाह्य व्यवहारका कार्य भी नहीं मान सकते। अतः कारणकी दृष्टिसे या फलकी दृष्टिसे किसी भी व्यवहारको एक ही व्यक्ति या समष्टिके वास्ते ऐकान्तिक धर्म होनेका विधान नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि जैन शास्त्रोंमें और दूसरे शास्त्रोंमें भी, तात्त्विक धर्मको सबके लिए और सदाके वास्ते एकरूप मानते हुए भी व्यावहारिक धर्मको इस तरह नहीं माना गया।

फिर भी यह प्रश्न होता है कि अगर व्यावहारिक आचार ऐकान्तिक धर्मके रूपमें संभव नहीं है तो जब उन आचारोंका कोई विरोध करता है और उसके स्थानपर दूसरे नियम और दूसरे आचार स्थापित करना चाहता है, तो पुराने आचारोंका अनुसरण करनेवालोंको क्यों बुरा लगता है? और क्या उनकी भावनाको ठेस लगाना सुधारवादियोंके लिए इष्ट है? जवाब स्पष्ट है। व्यावहारिक क्रियाकाण्डोंको भ्रमपूर्वक तात्त्विक धर्म मान लेनेवालोंका वर्ग हमेशा बड़ा होता है। वे लोग इन बाह्य क्रियाकाण्डोंके ऊपर होनेवाले आघातोंको भी तात्त्विक धर्मपर आघात माननेकी भूल किया करते हैं और इस भूलसे ही उनका दिल कष्ट पाता है। सुधारवादियोंका यह कर्तव्य है कि वे स्वयं जो समझते हों उसको स्पष्ट रूपसे रूढ़िवादियोंके सामने रखें। भ्रम दूर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो जानेपर उन लोगोंका जो कष्ट है वह दूर हो जायगा और उसके स्थानपर सत्य दर्शनका आनन्द प्राप्त होगा।

देव, गुरु, धर्म तत्त्व

जैन परम्पराके अनुसार तात्त्विक धर्म तीन तत्त्वोंमें समाया हुआ है —देव, गुरु और धर्म। आत्माकी संपूर्ण निर्दोष अवस्थाका नाम देव तत्त्व, उस निर्दोषताको प्राप्त करनेकी सच्ची आध्यात्मिक साधना गुरु तत्त्व और सब तरहके विवेकपूर्ण यथार्थ संयमका नाम धर्म तत्त्व। इन तीन तत्त्वोंको जैनत्वकी आत्मा कहना चाहिए। इन तत्त्वोंकी रक्षा करनेवाली और पोषण करनेवाली भावनाको उसका शरीर कहना चाहिए। देवतत्त्वको स्थूल रूप प्रदान करनेवाले मन्दिर, उनके अन्दरकी मूर्तियाँ, उनकी पूजा-आरती और उक्त संस्थाके निर्वाहके लिए आमदनीके साधन, उसकी व्यवस्थापक पेढ़ियाँ, तीर्थस्थान, ये सब देवतत्त्वका पोषक भावना-रूप शरीरके वस्त्र और अलंकार हैं। इसी प्रकार मकान, खान-पान रहन-सहन आदिके नियम तथा दूसरे प्रकारके विधि-विधान ये सब गुरुतत्त्वरूप शरीरके वस्त्र और अलंकार हैं। अमुक चीज़ न खानी, अमुक ही खानी, अमुक प्रमाणमें खाना, अमुक वक्त नहीं खाना, अमुक स्थानमें रहना, अमुकके प्रति अमुक रीतिसे ही व्यवहार करना, इत्यादि विधि-निषेधके नियम संयम तत्त्वके शरीरके कपड़े और जेवर हैं।

आत्मा, शरीर और उसके अंग

आत्माके बसने, काम करने और विकसित होनेके लिए शरीरकी सहायता अनिवार्य होती है। शरीरके विना वह कोई व्यवहार सिद्ध नहीं कर सकता। कपड़े शरीरकी रक्षा करते हैं और अलंकार उसकी शोभा बढ़ाते हैं, परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि एक ही आत्मा होते हुए भी उसके अनादि जीवनमें शरीर एक नहीं होता। वह प्रतिक्षण बदलता रहता है। अगर इस बातको छोड़ भी दिया जाय, तो भी पुराने शरीरका त्याग और नये शरीरकी स्वीकृति सांसारिक आत्म-जीवनमें अनिवार्य है। कपड़े शरीरकी रक्षा करते हैं, परन्तु यह एकान्त सत्य नहीं है। बहुत-बार कपड़े उलटे शरीरकी विकृतिका कारण होनेसे त्याज्य हो जाते हैं और जब रक्षा करते हैं तब भी शरीरके ऊपर वे एक जैसे नहीं रहते। शरीरके प्रमाणसे छोटे बड़े करने और बदलने पड़ते हैं। अवसर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक भापका कपड़ा भी मैला, पुराना या जन्तुमय हो जानेपर बदलना पड़ता है या साफ करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त बिना कपड़ेके भी शरीर निरोग रह सकता है बल्कि इस स्थितिमें तो ज्यादा निरोगपना और स्वाभाविकपना शास्त्रमें कहा गया है। इससे विपरीत कपड़ोंका संभार तो आरोग्यका विनाशक और दूसरे कई तरीकोंसे नुकसानकारक भी सिद्ध हुआ है। गहनोंका तो शरीररक्षा और पुष्टिके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। कपड़े और गहनोंको अपेक्षा जिसका आत्माके साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है और जिसका सम्बन्ध अनिवार्य रीतिसे जीवनमें आवश्यक है, उस शरीरके विषयमें भी ध्यान खींचना जरूरी है। शरीरके अनेक अंगोंमें हृदय, मस्तिष्क, और नाभि आदि ध्रुव अंग हैं। इनके अस्तित्वपर ही शरीरका अस्तित्व है। इनमेंसे कोई अंग गया कि जीवन समाप्त। परन्तु हाथ, पैर, कान, नाक, आदि जरूरी अंग होते हुए भी ध्रुव नहीं हैं—उनमें बिगाड़ या अनिवार्य दोष उत्पन्न होनेपर उनके काट देनेसे ही शरीर सुरक्षित रहता है। आत्मा, शरीर, उसके ध्रुव-अध्रुव अङ्ग, वस्त्र, अलंकार इन सबका पारस्परिक क्या सम्बन्ध है, वे एक दूसरेसे कितने नजदीक अथवा कितने दूर हैं, कौन अनिवार्य रूपसे जीवनमें जरूरी हैं और कौन नहीं, जो यह विचार कर सकता है उसको धर्म-तत्त्वकी आत्मा, उसके शरीर और उसके वस्त्रालंकार-रूप बाह्य व्यवहारोंके बीचका पारस्परिक सम्बन्ध, उनका बलाबल और उनकी कीमत शायद ही समझानी पड़े।

धर्मनाशका भय

इस समय यदि कोई धर्मके कपड़े और गहनेस्वरूप बाह्य व्यवहारोंको बदलने, उनमें कमी करने, सुधार करने और जो निकम्मे हों उनका विच्छेद कर देनेकी बात करता है, तो एक वर्ग बौखला उठता है कि यह तो देव, गुरु और धर्म तत्त्वके उच्छेद करनेकी बात है। इस वर्गकी बौखलाहट एक बालक और युवतीकी तरह है। बालकके शरीरसे मैले और नुकसानदेह कपड़े उतारते समय वह चिल्लाता है—' अरे मुझे मार डाला। ' सौन्दर्यको पुष्ट करनेके लिए या परंपरासे चली आती हुई भावनाके कारण सुरक्षा-पूर्वक बढ़ाये हुए और सँभाल कर रखे हुए बालोंको जब उनकी जड़में कोई बड़ी भारी सड़न हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जानेसे काटा जाता है तो उस समय युवती भी केश-मोह-वश चिल्ला उठती है 'अरे मुझे मार डाला, काट डाला।' धर्मरक्षकोंकी चिल्लाहट क्या इसी प्रकारकी नहीं है?

प्रश्न होगा कि क्या तात्त्विक और व्यावहारिक धर्मका संबंध और उसका बलाबल रूढिपन्थी विद्वान् गिने जानेवाले आचार्यसम्राट् (?) नहीं जानते?

यदि उनकी चिल्लाहट सच्ची हो, तो जवाब यह है कि या तो वे जानते नहीं, और यदि जानते हैं तो इतने असहिष्णु हैं कि उसके आवेशमें समभाव खोकर बाह्य व्यवहारके परिवर्तनको तात्त्विक धर्मका नाश कह देनेकी भूल कर बैठते हैं। मुझे तो इस प्रकारकी बौखलाहटका कारण यही लगता है कि उनके जीवनमें तात्त्विक धर्म तो रहता नहीं और व्यवहारिक धर्मकी लोकप्रतिष्ठा तथा उसके प्रति लोगोंकी भक्ति होनेसे किसी भी त्याग या अर्पण या किसी भी तरहके कर्तव्य या ज़बाबदारीके बिना सुखी और आलसी जीवन निर्वाह करनेकी उनकी आदत पड़ जाती है, और इस लिए वे इस जीवन और इस आदतको सुरक्षित रखनेके लिए ही स्थूल-दर्शी लोगोंको उत्तेजित कर होहल्ला मचानेका काम जाने अजाने करने लगते हैं।

रूढिवादी धर्माचार्य और पंडित एक तरफ़ तो खुदके धर्मको त्रिकालाबाधित और शाश्वत कहकर सदा ध्रुव मानते और मनवाते हैं और दूसरी तरफ कोई उनकी मान्यताके विरुद्ध विचार प्रकट करता है तो फौरन धर्मके विनाशकी चिल्लाहट मचा देते हैं। यह कैसा 'वदतो व्याघात' है? मैं उन विद्वानोंसे कहता हूँ कि यदि तुम्हारा धर्म त्रिकालाबाधित है, तो सुखसे सौड़ तानकर सोये रहो, क्योंकि तुम्हारी मतसे किसीके कितने ही प्रयत्न करने पर भी उसमें तनिक भी परिवर्तन नहीं होता और यदि तुम्हारा धर्म विरोधीके विचार मात्रसे नाशको प्राप्त हो जाने जितना कोमल है तो तुम्हारे हजार चौकी पहरा रखते हुए भी नष्ट हो जायगा। कारण, विरोधी विचार तो किसी न किसी दशामें होंगे ही—इस लिए तुम धर्मको त्रिकालाबाधित मानो या विनश्वर मानो, तुम्हारे लिए तो सभी स्थितियोंमें होहल्ला मचानेका प्रयत्न निकम्मा है।

धर्मके ध्येयकी परीक्षा

धर्मके ध्येयकी परीक्षा भी धर्म-परीक्षाके साथ अनिवार्य रूपसे संबद्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए अब इस उत्तरार्धपर आना चाहिए । हरेक देशमें अपनेको आस्तिक मानने या मनवानेवाला वर्ग, चार्वाक जैसे केवल इहलोकवादी या प्रत्यक्ष सुखवादी लोगोंसे कहता आया है कि तुम नास्तिक हो। क्यों कि तुम वर्तमान जन्मसे उस पार किसीका अस्तित्व नहीं माननेके कारण कर्म-वाद और उससे फलित होनेवाली सारी नैतिक-धार्मिक जवाबदेहियोंसे इनकार करते हो। तुम मात्र वर्तमान जीवनकी और वह भी अपने ही जीवनकी स्वार्थी संकीर्ण दृष्टि रखकर सामाजिक और आध्यात्मिक दीर्घदर्शितावाली जवाबदेहीके बंधनोंकी उपेक्षा करते हो, उनसे इंकार करते हो और वैसा करके केवल पारलौकिक ही नहीं, ऐहिक जीवन तककी सुव्यवस्थाका भंग करते हो। इसलिए तुम्हें सिर्फ आध्यात्मिक हितके लिए भी नास्तिकतासे दूर रहना चाहिए। इस प्रकार आस्तिक गिने जानेवाले वर्गका प्रत्यक्षवादी चार्वाक जैसे लोगोंके प्रति आक्षेप या उपदेश होता है। इसके आधारसे कर्मसिद्धान्तवादी कहो, आत्म-वादी कहो, या परलोकवादी कहो, उनका क्या सिद्धान्त है, यह अपने आप स्पष्ट हो जाता है।

कर्म-वादीका सिद्धान्त यह है कि जीवन सिर्फ वर्तमान जन्ममें ही पूरा नहीं हो जाता। वह पहले भी था और आगे भी रहेगा। ऐसा कोई भी भला या बुरा, स्थूल या सूक्ष्म, शारीरिक या मानसिक परिणाम जीवनमें नहीं उत्पन्न होता जिसका बीज उस व्यक्तिके द्वारा वर्तमान या पूर्व जन्ममें न बोया गया हो। इसी तरह एक भी स्थूल या सूक्ष्म मानसिक, वाचिक या कायिक कर्म नहीं है कि जो इस जन्ममें या पर जन्ममें परिणाम उत्पन्न किये विना विलुप्त हो जाय। कर्मवादीकी दृष्टि दीर्घ इस लिए है कि वह तीनों कालोंको व्याप्त करती है, जब कि चार्वाककी दृष्टि दीर्घ नहीं है क्यों कि वह सिर्फ वर्तमानको स्पर्श करती है। कर्मवादीकी इस दीर्घ दृष्टिसे फलित उसकी वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक या विश्वीय जवाबदारियों और नैतिक बंधनोंमें, और चार्वाककी अल्प दृष्टिसे फलित होनेवाली जवाबदारियों और नैतिक बंधनोंमें बड़ा अन्तर है। यदि यह अन्तर बराबर समझ लिया जाय और उसका अंशमात्र भी जीवनमें उतारा जाय तब तो कर्मवादियोंका चार्वाकके प्रति आक्षेप सच्चा गिना जाय और चार्वाकके धर्म-ध्येयकी अपेक्षा कर्म-वादीका धर्म-ध्येय उन्नत और ग्राह्य है—यह जीवन-व्यवहारसे मान लिया जाय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब हमें यह देखना है कि व्यवहारमें कर्मवादी चार्वाकपन्थीकी अपेक्षा कितना ऊँचा जीवन बिताता है और अपने संसारको कितना अधिक सुन्दर और कितना अधिक भव्य बनाना या रचना जानता है।

यों चर्चामें एक पक्ष दूसरेको चाहे जो कहे, उसको कोई नहीं रोक सकता। किन्तु सिर्फ कहने मात्रसे कोई अपना बड़ापन साबित नहीं कर सकता। बड़े छोटेकी जाँच तो जीवनसे ही होती है। चार्वाक-पन्थी तुच्छ दृष्टिको लेकर परलोक नहीं मानते जिससे वे अपनी आत्मिक जवाब-दारी और सामाजिक जवाबदारीसे भ्रष्ट रहकर सिर्फ अपने ऐहिक सुखकी संकीर्ण लालसामें एक दूसरेके प्रतिकी सामाजिक जवाबदारियाँ अदा नहीं करते। उससे व्यवहार लँगड़ा हो जाता है। ऐसा हो सकता है कि चार्वाकपंथी जहाँ अपने अनुकूल हो, वहाँ दूसरोंसे सहायता ले ले, मा-बापकी विरासत पचा ले और म्युनिसिपेल्टिीकी सामग्रीको भोगनेमें जरा भी पीछे नहीं रहें, सामाजिक या राजकीय लाभोंका लेश मात्र भी त्याग न करे। परन्तु जब उन्हीं मा-बापोंके पालने पोषनेका सवाल आवे तब उपेक्षाका आश्रय ले ले। म्युनिसिपाल्टीके किसी नियमका पालन अपने सिरपर आ जाय तब चाहे जिस बहानेसे निकल जाय। सामाजिक या राष्ट्रीय आपत्तिके समय कुछ कर्त्तव्य प्राप्त होनेपर पेट दुखनेका बहाना करके पाठशालासे बच निकलने-वाले बालककी तरह, किसी न किसी रीतिसे छुटकारा पा जाय और इस तरह अपनी चार्वाक दृष्टिसे कौटुम्बिक, सामाजिक, राजकीय सारे जीवनको लँगड़ा बनानेका पाप करता रहे। यह है उसकी चार्वाकताका दुष्परिणाम।

अब अपनेको पर-लोक-वादी आस्तिक कहनेवाले और अपने आपको बहुत श्रेष्ठ माननेवाले वर्गकी तरफ ध्यान दीजिए। अगर कर्म-वादी भी अपनी कौटुम्बिक, सामाजिक और राजकीय सारी जिम्मेदारियोंसे छूटता दिखाई पड़े, तो उसमें और चार्वाकमें क्या अन्तर रहा? व्यवहार तो दोनोंने ही बिगाड़ा। हम देखते हैं कि कुछ खुदमतलबी अपने आपको खुल्लमखुल्ला चार्वाक कहकर प्राप्त हुई जिम्मेदारियोंके प्रति सर्वथा दुर्लक्ष करते हैं। पर साथ ही हम देखते हैं कि कर्मवादी भी प्राप्त जवाबदारियोंके प्रति उतनी ही उपेक्षा बतलाते हैं। बुद्धिसे परलोकवाद स्वीकार करनेपर भी और वाणीसे उसका उच्चारण करनेपर भी उनमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परलोक-वाद तो नाम मात्रका ही रहता है। इसका कारण पर-लोकवादको धर्मके ध्येयमें स्थान देनेपर भी उसकी जो गैर-समझ रहती है, वह है। चार्वाककी गैरसमझ तो संकीर्ण दृष्टिजन्य ही है परन्तु पर-लोकवादीकी गैरसमझ उससे दुगुनी है। वह बोलता तो है दीर्घदृष्टिकी तरह और व्यवहार करता है चार्वाककी तरह।—अतः एकमें अज्ञान है तो दूसरेमें विपर्यास।

विपर्यासके परिणाम

इस विपर्यासके पर-लोकवादी स्वात्माके प्रति सचाईसे सोचने और सच्चा रहकर तदनुसार अपना जीवन बनानेकी जवाबदारीका तो पालन नहीं करता परन्तु जब कौटुम्बिक, सामाजिक वगैरह जवाबदारियाँ उपस्थित होती हैं तब वर्तमान जन्म क्षण-भंगुर है—यहाँ कोई किसीका नहीं है—सब स्वार्थी भरे हुए हैं, यह सब मेला बिखरनेवाला है, जो भाग्यमें लिखा होगा उसे कौन मिटा सकता है, अपना हित साधना अपने हाथमें है। यह हित पर-लोक सुधारनेमें है और परलोक सुधारनेके लिए इस जगतकी प्राप्त हुई सभी वस्तुएँ फेंकने योग्य हैं। इस प्रकारकी विचार-धारामें पड़कर, पर-लोककी धुनमें वह मनुष्य इन जवाबदारियोंकी उपेक्षा करता है। इस प्रकारकी ऐकान्तिक धुनमें वह भूल जाता है कि उसके परलोकवादके सिद्धान्तके अनुसार उसका वर्तमान जन्म भी तो परलोक ही है और उसकी अगली पीढ़ी भी परलोक है, प्रत्यक्ष उपस्थित अपने सिवायकी सृष्टि भी परलोकका ही एक भाग है। इस भूलके संस्कार भी कर्मवादके नियमानुसार उसके साथ जाएँगे। जब वह किसी दूसरे लोकमें अवतरित होगा, या इसी लोकमें नयी पीढ़ीमें जन्म लेगा, तब उसका परलोक सुधारने और सारा वर्तमान फेंक देनेका संस्कार जागेगा और फिर वह यही कहेगा कि परलोक ही धर्मका ध्येय है। धर्म तो परलोक सुधारनेको कहता है, इसलिए ऐहिक सुधारना या ऐहिक जवाबदारियोंमें बँध जाना तो धर्मद्रोह है। ऐसा कहकर वह प्रथमकी अपेक्षासे परलोक किन्तु अभीकी अपेक्षासे वर्तमान, इस जन्मकी उपेक्षा करेगा और दूसरे ही परलोक और दूसरे ही जन्मको सुधारनेकी धुनमें पागल होकर धर्मका आश्रय लेगा। इस संस्कारका परिणाम यह होगा कि प्रथम माना हुआ परलोक ही वर्तमान जन्म बनेगा और तब वह धर्मके परलोक सुधारनेके ध्येयको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पकड़कर इस प्राप्त हुए परलोककी उपेक्षा करेगा और बिगाड़ेगा। इस तरह धर्मका ध्येय परलोक है, इस मान्यताकी भी गैरसमझका परिणाम चार्वाकके परलोकवादकी अस्वीकृतिकी अपेक्षा कोई दूसरा होना संभव नहीं।

यदि कोई कहे कि यह दलील बहुत खींच-तानकी है तो हमें उदाहरणके लिए दूर जानेकी जरूरत नहीं है। जैन समाज आस्तिक गिना जाता है, परलोक सुधारनेका उसका दावा है और उसके धर्मका ध्येय परलोक सुधारनेमें ही पूर्ण होता है, ऐसा वह गर्वपूर्वक मानता है।

परन्तु अगर हम जैन समाजकी प्रत्येक प्रवृत्तिका बारीकीके साथ अभ्यास करेंगे तो देखेंगे कि वह परलोक तो क्या साधेगा चार्वाक जितना इहलोक भी नहीं साध सकता।

एक चार्वाक मुसाफिर गाड़ीमें बैठा। उसने अपने पूरे आरामके लिए दूसरोंकी सुविधाकी बलि देकर, दूसरोंको अधिक असुविधा पहुँचा कर पर्याप्तसे भी अधिक जगह घेर ली। थोड़ी देर बाद उतरना होगा और यह स्थान छोड़ना पड़ेगा, इसका उसने कुछ भी ख्याल नहीं किया। इसी तरह दूसरे मौकोंपर भी वह सिर्फ अपने आरामकी धुनमें रहा और दूसरोंके सुखकी बलि देकर सुखपूर्वक सफर करता रहा। दूसरा पैसेंजर परलोकवादी जैन जैसा था। उसको जगह तो मिली जितनी चाहिए उससे भी ज्यादा, पर थी वह गन्दी। उसने विचार किया कि अभी ही तो उतरना है, कौन जाने दूसरा कब आ जाय, चलो, इसीसे काम चला लो। सफाईके लिए माथा-पच्ची करना व्यर्थ है। इसमें वक्त खोनेके बदले 'अरिहन्त' का नाम क्यों ही न लें, ऐसा विचार कर उसने उसी जगहमें वक्त निकाल दिया। दूसरा स्टेशन आया, स्थान बदलनेपर दूसरी जगह मिल गई। वह थी तो स्वच्छ पर बहुत सँकरी। प्रयत्नसे अधिक जगह की जा सकती थी। परन्तु दूसरोंके साथ वादविवाद करना परलोककी मान्यताके विरुद्ध था। सो वहाँ फिर परलोकवाद आ गया—भाई, रहना तो है थोड़ी देरके लिए, व्यर्थकी माथापच्ची किस लिए? ऐसा कहके वहाँ भी उसने अरिहन्तका नाम लेकर वक्त निकाला। इस तरह उसकी लम्बी और अधिक दिनोंकी रेलकी और जहाजकी सारी मुसाफिरी पूरी हुई। आराम मिला या कष्ट—जहाँ उसको कुछ भी करनेकी जरूरत पड़ी—वहीं उसके परलोकवादने हाथ पकड़ लिया—और इष्ट स्मरणके लिए सावधान कर दिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हम इन दोनों मुसाफिरोंके चित्र सदैव देखते हैं। इस परसे यह कैसे कहा जा सकता है कि प्रथम चार्वाककी अपेक्षा दूसरा परलोकवादी पैसेंजर बढ़ा-चढ़ा है। एकने जब कि संकीर्ण दृष्टिसे सबके प्रतिकी जिम्मेदारियोंका भंग कर कमसे कम अपना आराम तो साधा और वह भी अखीर तक, तब दूसरेने प्रयत्न किये बिना यदि आराम मिला तो रसपूर्वक उसका आस्वादन किया, परन्तु जहाँ जहाँ अपने आरामके लिए और दूसरोंकी बेआरामीको दूर करनेके लिए प्रयत्न करनेका प्रसंग आया वहाँ वहाँ परलोक और आगेका श्रेय साधनेके निरे भ्रममें चार्वाककी अपेक्षा भी अधिक जवाबदारियोंका भंग किया। यह कोई रूपक नहीं है, प्रतिदिन होनेवाले व्यवहारकी बात है। लड़का वयस्क होकर माता पिताकी विरासत पानेके लिए तो उत्सुक हो जाता है, किन्तु माता पिताकी सेवाका प्रसंग आनेपर उसके सामने परलोकवादियोंके उपदेश शुरू हो जाते हैं। 'अरे मूर्ख! आत्माका हित तो कर ले, माता पिता तो प्रपंच है।' ये महाशय फिर परलोक सुधारने चलते हैं और वहाँ फिर वही गैर जवाबदारीका अनवस्था-चक्र चलना शुरू हो जाता है।

कोई युवक सामाजिक जवाबदारीकी तरफ झुकता है तो परलोकवादी गुरु कहते हैं—'जात-पाँतके बंधन तोड़कर तू उसको विशाल बनानेकी बातमें तो पड़ा है, पर कुछ आत्माका भी विचार करता है? परलोकको देख। इस प्रपंचमें क्या रखा है?' वह युवक गुरुकी बात सर्वथा न माने तो भी भ्रमवश हाथमें लिया हुआ काम तो प्रायः ही छोड़ देता है। कोई दूसरा युवक वैधव्यके कष्ट निवारणार्थ अपनी सारी संपत्ति और सामर्थ्यका उपयोग एक विधवाके पुनर्विवाहके लिए करता है या अस्पृश्योंको अपनाने और अस्पृश्यताके निवारणमें करता है, तो आस्तिक-रत्न गुरुजी कहते हैं—'अरे विषयके कीड़े, ऐसे पापकारी विवाहोंके प्रपञ्चमें पड़कर परलोक क्यों बिगाड़ता है?' और वह बेचारा भ्रान्त होकर मौन लेकर बैठ जाता है। गरीबोंकी व्यथा दूर करनेके लिए राष्ट्रीय खादी जैसे कार्यक्रममें भी किसीको पड़ता देखकर धर्मत्राता गुरु कहते हैं—'अरे यह तो कर्मोंका फल है। जिसने जैसा किया, वह वैसा भोगता है। तू तो तेरा सँभाल। जिसने आत्माको साध लिया, उसने सब साध लिया। परलोक जैसा उच्च ध्येय होना चाहिए।' ऐसे उपदेशसे यह युवक भी कर्त्तव्यसे च्युत हो जाता है। हम इस तरहके कर्तव्य-भ्रंश समाज समाज और घर घरमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखते हैं। गृहस्थोंकी ही बात नहीं, त्यागी गिने-जानेवाले धर्मगुरुओंमें भी कर्तव्य-पालनके नामपर शून्य है। तब चार्वाक धर्म या उसके ध्येयको स्वीकार करनेसे जो परिणाम उपस्थित होता है वही परिणाम परलोकको धर्मका ध्येय माननेसे भी नहीं हुआ, ऐसा कोई कैसे कह सकता है? यदि ऐसा न होता तो हमारे दीर्घदर्शी गिने जानेवाले परलोकवादी समाजमें आत्मिक, कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जवाबदारियोंके ज्ञानका अभाव न होता।

चाहे कर्ज लेकर भी घी पीनेकी मान्यता रखनेवाले प्रत्यक्षवादी स्वसुख-वादी चार्वाक हों चाहे परलोकवादी आस्तिक हों, यदि उन दोनोंमें कर्तव्यकी योग्य समझ, जवाबदारीका आत्म-भान और पुरुषार्थकी जागृति जैसे तत्त्व न हों, तो दोनोंके धर्मध्येय सम्बन्धी वादमें चाहे कितना ही अन्तर हो, उन दोनोंके जीवनमें या वे जिस समाजके अंग हैं, उस समाजके जीवनमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। बल्कि ऐसा होता है कि परलोकवादी तो दूसरेके जीवनको बिगाड़नेके अलावा अपना जीवन भी बिगाड़ लेता है, जब कि चार्वाकपन्थी अधिक नहीं तो अपने वर्तमान जीवनका तो थोड़ा सुख साध लेता है। इसके विपरीत अगर चार्वाक-पंथी और परलोकवादी दोनोंमें कर्तव्यकी योग्य समझ, जवाबदारीका भान और पुरुषार्थकी जागृति बराबर बराबर हो, तो चार्वाककी अपेक्षा परलोकवादीका विश्व अधिक संपूर्ण होनेकी या परलोकवादीकी अपेक्षा चार्वाकपन्थीकी दुनियाके निम्न होनेकी कोई संभावना नहीं है।

धर्मका ध्येय क्या हो?

ध्येय चाहे जो हो, जिनमें कर्तव्य और जवाबदारीका भान और पुरु-षार्थकी जागृति अधिक है, वे ही दूसरोंकी अपेक्षा अपना और अपने समाज या राष्ट्रका जीवन अधिक समृद्ध या सुखी बनानेवाले हैं। कर्तव्य और जवाब-दारीके भान वाले और पुरुषार्थकी जागृतिवाले चार्वाक सदृश लोग भी दूसरे पक्षके समाज या राष्ट्रके जीवनकी बनिस्बत अपने समाज और राष्ट्रका जीवन खूब अच्छा बना लेते हैं, इसके प्रमाण हमारे सामने हैं। इसलिए धर्मके ध्येय रूपमें परलोकवाद, कर्मवाद, या आत्मवाद दूसरे वादोंकी अपेक्षा अधिक संपूर्ण या बढ़ा हुआ है, ऐसा हम किसी भी तरहसे साबित नहीं कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकते। ऐसी स्थितिमें परलोक सुधारनेको धर्मका ध्येय माननेकी जो प्रवृत्ति चली आई है, वह बराबर नहीं है, यह स्वीकार करना होगा।

तब प्रश्न होगा कि धर्मका ध्येय क्या होना चाहिए ? किस वस्तुको धर्मके ध्येयरूपसे सिद्धान्तमें, विचारमें, और वर्तनमें स्थान देनेसे धर्मकी सफलता और जीवनकी विशेष प्रगति साधी जा सकती है ?

इसका जवाब ऊपरके विवेचनमें ही मिल जाता है और वह यह कि प्रत्येकको अपने वैयक्तिक और सामूहिक कर्तव्यका ठीक भान, कर्तव्यके प्रति रही हुई जिम्मेवारीमें रस और उस रसको मूर्त करके दिखानेवाली पुरुषार्थकी जागृति, इसीको धर्मका ध्येय मानना चाहिए।

यदि उक्त तत्त्वोंको धर्मका ध्येय मानकर उनपर जोर दिया जाय, तो प्रजाका जीवन समग्र रूपमें बदल जाय। धर्म तात्त्विक हो या व्यावहारिक, यदि उक्त तत्त्व ही उसके ध्येय-रूपमें स्वीकृत किये जायँ और प्रत्यक्ष सुखवाद या परलोकसुधारवादका स्थान गौण कर दिया जाय, तो मनुष्य चाहे जिस पक्षका हो वह नवजीवन बनानेमें किसी भी तरहकी विसंगतिके बिना अपना योग देगा, और इस तरहका ध्येय स्वीकार किया जायगा तो जैन समाजकी भावी सन्तति सब तरहसे अपनी योग्यता दिखला सकेगी।

इस ध्येयवाला भावी जैन पहले अपना आत्मिक कर्तव्य समझकर उसमें रस लेगा। इससे वह अपनी बुद्धिकी विशुद्धि और विकासके लिए अपनेसे हो सकनेवाली सारी चेष्टा करेगा और अपने पुरुषार्थको जरा भी गुप्त न रखेगा। क्यों कि वह यह समझ लेगा कि बुद्धि और पुरुषार्थके द्रोहमें ही आत्मद्रोह और आत्मकर्तव्यका द्रोह है। वह कुटुम्बके प्रति अपने छोटे बड़े समग्र कर्तव्य और जवाबदारियाँ अदा करनेमें अपने जीवनकी सफलता समझेगा।

इस तरह उसके जीवनसे उसकी कुटुम्बरूपी घड़ी बिना अनियमितताके बराबर चलती रहेगी। वह समाज और राष्ट्रके प्रति प्रत्येक जवाबदारीके पालनमें अपना महत्त्व मानेगा और इस लिए समाज और राष्ट्रके अभ्युदयके मार्गमें उसका जीवन बहुत मददगार होगा।

जैन समाजमें एकाश्रम संस्था अर्थात् त्यागाश्रम संस्थाके ऊपर ही मुख्य भार देनेके कारण अधिकारका विचार उपेक्षित रह जाता है और उससे जीवनमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्रृङ्खलता दिखाई देती है। उसके स्थानमें अधिकारस्वरूप आश्रम-व्यवस्था उक्त ध्येयका स्वीकार करनेसे अपने आप सिद्ध हो जायगी। इस दृष्टिसे विचार करते हुए मुझे स्पष्ट मालूम होता है कि यदि आजकी नव सन्तति दूसरे किसी भी वादविवादमें न पड़कर अपने समस्त कर्तव्यों और उनकी जवाबदारियोंमें रस लेने लग जाय, तो हम थोड़े ही समयमें देख सकेंगे कि पश्चिमके या इस देशके जिन पुरुषोंको हम समर्थ मान कर उनके प्रति आदरवृत्ति रखते हैं, उन्हींकी पंक्तिमें हम भी खड़े हो गये हैं।

यहाँ एक प्रश्नका निराकरण करना ज़रूरी है। प्रश्न यह है कि चार्वाक दृष्टि सिर्फ प्रत्यक्ष-सुख-वादकी है और वह भी सिर्फ स्वसुखवादकी। इस लिए उसमें सिर्फ अपने ही सुखका ध्येय रखनेके कारण दूसरोंके प्रति भी सामूहिक जिम्मेवारीको, चाहे वह कौटुम्बिक हो या सामाजिक, कहाँ स्थान है, जैसा कि परलोकवादमें होना संभव है। चार्वाकके लिए तो अपने संतोष पर ही सबका संतोष और 'आप मुए, डूब गई दुनिया' वाला सिद्धान्त है। पर इसका खुलासा यह है कि केवल प्रत्यक्षवादमें भी जहाँ अपने स्थिर और पक्के सुखका विचार आता है वहाँ कौटुम्बिक, सामाजिक आदि जवाबदारियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जबतक दूसरेके प्रति जवाबदारी न समझी जाय और न पाली जाय तबतक केवल अपना ऐहिक सुख भी नहीं साधा जा सकता। दुनियाका कोई भी सुख हो, वह पर-सापेक्ष है। इस लिए दूसरोंके प्रति व्यवहारक समुचित व्यवस्था किये विना केवल अपना ऐहिक सुख भी सिद्ध नहीं हो सकता। इस लिए जिस तरह परलोक-दृष्टिमें उसी तरह केवल प्रत्यक्ष-वादमें भी सभी जिम्मेदारियोंको पूरा स्थान है।

[पर्युषण-व्याख्यानमाला, बम्बई, १९३६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org